# पालि-भाषा के बौद्ध ग्रन्थों में जैन धर्म

डा. गुलाबचन्द चौधरी, एम्. ए., पीएच्. डी.

भगवान् बुद्ध ने अपने सारे उपदेश जिस जनभाषा में दिये थे उसका नाम मागधी था। मागधी में बुद्धवचनों या उक्तियों को परियाय या पलियाय कहा गया है। कालान्तर में इसी परियाय-पलियाय से पालि शब्द निकला जिसका अर्थ भाषा के साथ लगाने पर होता है बुद्धवचनों की भाषा। बौद्ध ग्रन्थ संस्कृत में भी लिखे गये हैं पर बुद्धवचनों का प्रतिनिधित्व करनेवाली भाषा पालिभाषा ही है।

जिस तरह बुद्ध ने जनभाषा में उपदेश दिया था उसी तरह भगवान् महावीर ने भी अपने उपदेश तत्कालीन जनभाषा अर्धमागधी में दिये थे। दोनों भाषाएं मगध में बोली जानेवाली मागधी के ही रूप हैं। दोनों सम्प्रदायों के नेताओं ने एक ही क्षेत्र में विहार कर अपने उपदेश दिये, इसलिए उन दोनों के आगम ग्रन्थों में भाषा, भाव, शैली एवं वर्णन आदि के साम्य को देखकर इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि दोनों महापुरुष—महावीर और बुद्ध—समकालीन थे। पालि ग्रन्थों के वर्णन से हमें यह भी मालूम होता है कि वे दोनों महात्मा कभी कभी एक ही नगर, एक ही गांव और एक ही मुहल्ले में विहार करते थे, पर इस बात का उल्लेख किसी भी सम्प्रदाय के ग्रन्थ में नहीं मिलता कि दोनों युगपुरुषों ने अपने मतभेदों पर आपस में वार्तालाप या बहस की हो। हां, इस बात की सूचना जरूर मिलती है कि इन दोनों के शिष्य तथा अनुयायिवर्ग प्रायः एक दूसरे के पास आतेजाते तथा शंकासमाधान व वादविवाद करते थे।

जो हो, पालि ग्रन्थों के पढ़ने से यह स्पष्टतः विदित होता है कि भगवान् बुद्ध ने तथा उनके समकालीन शिष्यों ने जैन सम्प्रदाय की अनेकों बातों को अपनी आँखों से देखा था। इन आँखों देखे वर्णनों से हमें जैनों के इतिहास, उनके दार्शनिक सिद्धान्त और आचारविषयक मान्यताओं का बहुत कुछ परिज्ञान होता है। इन पंक्तियों द्वारा उक्त बातों को दिखलाने का किञ्चित् प्रयत्न किया जायगा।

## इतिहास

पालि ग्रन्थों में जैन सम्प्रदाय का नाम 'निगण्ठ', 'निग्गण्ठ' एवं 'निगन्ध' आता है, जिसे हम प्राकृत में नीयण्ठ तथा संस्कृत में निर्ग्रन्थ नाम से कहते हैं। उक्त सम्प्रदाय के प्रचारक महात्मा का नाम नातपुत्र व नाटपुत्त रूप से मिलता है जिसे हम प्राकृत में नातपुत्त या नायपुत्त तथा संस्कृत में ज्ञातृपुत्र नाम से कहते हैं। इस तरह निगण्ठ सम्प्रदाय के नातपुत्त को एक शब्द से निगण्ठनातपुत्त कहा गया है। निगण्ठ का अर्थ पालि ग्रन्थों में बन्धनरहित है, जिसका आशय है, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित। पर नातपुत्त शब्द की व्युत्पत्ति का ज्ञान उक्त ग्रन्थों से नहीं होता। हां, जैन ग्रन्थों की सहायता से हम यह जानते हैं कि महावीर क्षत्रियों की एक शाखा 'ज्ञातृ'=नात=नाय में उत्पन्न हुए थे और जिस तरह बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध को शाक्य वंश में उत्पन्न होने के कारण शाक्यपुत्र कहा गया है उसी तरह महावीर को नातपुत्त। सामञ्ञफल आदि कुछ सूत्रों में महावीर को अग्गिवेशन (अग्निवैश्यायन) नाम से सम्बोधित किया गया है पर जैन ग्रन्थों के देखने से यह मालूम होता है कि यह बात गलत है। महावीर का गोत्र काश्यप था पर उनके एक प्रमुख शिष्य सुधर्मा का गोत्र अवश्य अग्निवैश्यायन था। यहां ऐसा प्रतीत होता है कि पालि-ग्रन्थों के संकलनकाल में संकलनकर्ताओं द्वारा यह विपर्यास कर दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पालि सूत्रों में जैन धर्म के अनुयायियों का निगण्ठपुत्त, निगण्ठ तथा निगण्ठसावक शब्द से उल्लेख किया गया है। उस सम्प्रदाय के महिलावर्ग के लिए भी निगण्ठी[1] शब्द आया है।

कतिपय बौद्ध सूत्रों में बुद्धकालीन छह अन्य तैर्थिकों का परम्परागत ढंग से वर्णन मिलता है। उसमें नातपुत्त का नाम भी शामिल किया गया है। उन सब के नाम के साथ निम्नलिखित विशेषण लगाये जाते हैं: "संघी चेव गणी च, गणाचरियो, ञातो, यसस्वी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयो अनुप्पत्तो[2]" अर्थात् संघस्वामी, गणाध्यक्ष, गणाचार्य, ज्ञानी, यशस्वी, तीर्थंकर, बहुत लोगों से संमानित, अनुभवी, चिरकाल का साधु, वयोवृद्ध। इनमें 'अद्धगतो' और वयो अनुपत्तो, इन दो विशेषणों से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अन्य तैर्थिकों के समान महावीर भी बुद्ध से आयु में बड़े थे और उस समय तक काफी वृद्ध थे। साथ ही उनका यह अनुमान है कि दीघनिकाय के संगीति पर्याय एवं पासादिक सुत्तों व मज्झिमनिकाय के सामगामसुत्त के कथनानुसार महावीर का निर्वाण भी बुद्ध से पहले हुआ था; पर इस संबंध में इतना ही कहना है कि जर्मन विद्वान् प्रो. याकोबी ने यह सिद्ध कर दिया है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण के पीछे हुआ है। उन के मतानुसार वज्जि-लिच्छिवियों का अजातशत्रु कुणिक के साथ जो युद्ध हुआ था वह बुद्ध के निर्वाण के बाद और महावीर के जीवनकाल में हुआ था। यद्यपि वज्जि और लिच्छिवी गणों का वर्णन दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलता है पर तथोक्त युद्ध का वर्णन केवल जैनागमों में ही मिलता है, बौद्धागमों में नहीं[3]। इतना ही नहीं, इन दोनों महापुरुषों की आयु को देखने से यह मालूम होता है कि महावीर बुद्ध से आयु में छोटे थे। बुद्ध निर्वाण के समय ८० वर्ष के थे जबकि महावीर ७२ वर्ष के।

साथ ही एक और बात यह है कि महावीर द्वारा स्वतंत्र रूप से धर्मोपदेश प्रारम्भ करने के पहले ही बुद्ध ने अपना धर्ममार्ग स्थापित करना शुरू कर दिया था। जो हो, पर उक्त अनेक विशेषणों में अन्त के दो विशेषण—अद्धगतो वयो अनुप्पत्तो—पालिसूत्रों में भी सन्देह की दृष्टि से देखे गये हैं और आश्चर्य है कि कुछ सूत्रों—महासकुलदायी (म. नि.) तथा सभियसुत्त (सुत्तनियात)—में ये दो विशेषण नहीं पाये जाते। निगण्ठ नातपुत्तके साथ अन्य विशेषणों का समर्थन जैन आगमों से भलीभांति होता है। उपालि सुत्त के निगण्ठ, निगण्ठी शब्द से मालूम होता है कि महावीर के संघ में स्त्रियों की भी प्रव्रज्या होती थी।

भगवान् महावीर के निर्वाण को सूचित करने वाले कतिपय तथोक्त पालिसूत्रों में लिखा है कि "जिस समय निगण्ठ-नातपुत्त की मृत्यु पावा में हुई थी, उस समय निगण्ठों में फूट होने लगी थी, दो पक्ष हो गये थे...एक दूसरे को वचन रूपी बाणों से बेधने लगे, मानो निगण्ठों में वध (युद्ध) हो रहा था, निगण्ठ नातपुत्त के जो श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य थे, वे भी निगण्ठ के वैसे दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अप्रतिष्ठित, आश्रयरहित धर्म में अन्यमनस्क हो खिन्न और विरक्त हो रहे थे[4]।" इस वर्णन से यह मालूम होता है कि महावीर की मृत्यु पावा में हुई थी तथा उनके बाद ही संघभेद होने लगा था। इस कथन में भगवान् महावीर का निर्वाण पावा में होना तो जैनागमों से समर्थित है। यह पावा जैन-बौद्ध आगमों के अनुसार मल्लों की पावा थी जो कि वर्तमान गोरखपुर जिले में अनुमानित है। पर संघभेद की बात उस प्रारम्भिक काल में जैन ग्रन्थों से समर्थित नहीं होती। जैन मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के दो

१. मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त।

२. दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त।

३. वीरसंवत् और जैन कालगणना, भारतीय विद्या, सिंघीस्मारक, पृष्ठ १७७।

४. दीघनिकाय, संगीतिपर्याय एवं पासादिक सुत्त; मज्झिमनिकाय, सामगामसुत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ढ़ाई सौ वर्ष बाद कुछ कारणों से संघभेद हुआ था। ऐसा मालूम होता है कि महावीर के निर्वाण की घटना के समान ही यह घटना उक्त सूत्रों में या तो निराधार ढंग से जोड़ दी गई या पिटकों के संकलन काल में श्वेताम्बर-दिगम्बर संघभेद की घटना को पीछे से विपर्यास रूप में ला दिया गया। उक्त कथन में गृहस्थ शिष्यों का श्वेतवस्त्रधारी विशेषण सूचित करता है कि श्वेताम्बर साधुओं को भूल से गृहस्थ के रूप में समझ लिया गया है; पर इस उल्लेख से इतना तो मानना पड़ेगा कि पालि के ग्रन्थ जैनों के संघभेद से परिचित थे, चाहे वह पहले हुआ हो या पीछे।

पालि ग्रन्थों से यह भी सूचित होता है कि भगवान महावीर और उनके अनुयायियों के विहार क्षेत्र अंग, मगध, काशी, कोशल तथा वज्जि, लिच्छिवि एवं मल्लों के गणराज्य थे। राजगृह, नालन्दा, वैशाली, पावा और श्रावस्ती में जैन लोग प्रधान रूप से रहते थे तथा वैशाली के लिच्छिवि जैन धर्म के प्रबल समर्थक थे।

मज्झिमनिकाय और अंगुत्तर निकाय के कतिपय सूत्रों में लिखा है कि "निगण्ठ लोग महावीर को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अपरिमित ज्ञान एवं दर्शन से युक्त, चलतेफिरते, खड़े रहते, सोते, जागते, अपरिशेष ज्ञानदर्शन से युक्त मानते थे[1]"। यह कथन जैनागमों से समर्थित है और जैन मान्यता इस के अनुरूप है। यहां अपरिशेष ज्ञानदर्शन जैनागमों के केवलज्ञान और केवलदर्शन को सूचित करता है। सर्वज्ञता के सम्बंध में भग० बुद्ध का यह मत था कि वे न तो स्वयं सर्वज्ञ होने का दावा करते थे और न दूसरों को ही वैसा मानते थे। सन्दकसुत्त[2] में उनके शिष्य आनन्द ने सर्वज्ञता का इस प्रकार परिहास किया है : एक शास्त्रसर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अशेष ज्ञानदर्शन वाला होने का दावा करता है, तो भी वह सूने घर में जाता है, वहां भिक्षा भी नहीं पाता, कुक्कुर भी काट खाता है, सर्वज्ञ होने पर भी स्त्री, पुरुषों के नाम गोत्र पूछता है, ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है, 'आप सर्वज्ञ होकर यह क्यों पूछते हैं' यह कहे जाने पर कहता है कि सूने घर में जाना विहित था इसलिए गये, भिक्षा मिलनी विहित न थी, इसलिए न मिली, कुक्कुर का काटना विहित था इसलिए उसने काटा आदि। यह आलोचना हमें सूचित करती है कि उस समय तथोक्त सर्वज्ञता की मान्यता के साथ साथ उसकी खरी आलोचना भी होने लगी थी।

## दर्शन

भगवान् महावीर की दार्शनिकता की पृष्ठभूमि क्रियावाद (कर्मवाद) था। विनयपिटक के महावग्ग ग्रन्थ में सिंहसेनापति के प्रसंग में तथा अंगुत्तर निकाय[3] में निगण्ठमत को किरियावाद (क्रियावाद) नाम से कहा गया है। इस वाद का अर्थ है "सुख-दुखं सयं कतं[4]" अर्थात् सुखदुःख का कर्ता जीव स्वयं है। सूत्रकृताङ्ग में यही बात यों कही गई है "सयं कडंच दुक्खं नाण्णकडम्[5]" अर्थात् जीव स्वयं किये गये सुख-दुःख का कर्ता एवं भोक्ता है, इसके सुखदुःख का विधाता और कोई नहीं। क्रियावाद की इस निगण्ठ मान्यता को मज्झिम निकाय के देवदहसुत्त में अच्छी तरह रखा गया है : यह पुरुष पुद्गल जो कुछ भी सुखदुःख या अदुःख असुख अनुभव करता है वह सब पहले (पुरुष-पूर्व) किये गये कर्मों के कारण ही। इन पुराने कर्मों का तपस्या द्वारा अन्त करने से तथा नये कर्मों को न करने से, भविष्य में विपाक रहित

१. चूल दुक्खन्धसुत्त, चूलसकुलदायिसुत्त; अंगुत्तरनिकाय III पृ. ७४, IV, पृ. ४२८।
२. मज्झिमनिकाय, ७६।
३. भाग ४, पृष्ठ १८०-१८१।
४. अंगुत्तर निकाय, भाग ३, पृ. ४४०।
५. १. १२. II।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनाश्रव होता है। विपाक रहित होने से कर्मक्षय, कर्मक्षय से दुःखक्षय और दुःखक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षय से सभी दुःख जीर्ण हो जाते हैं।"

यहां भगवान् महावीर ने आध्यात्मिक शुद्धि के लिए तपस्या का प्रतिपादन किया। इस दृष्टिकोण से निर्ग्रन्थ साधु कठोर तपश्चरण करते हैं। पर बुद्ध ने इस तपस्या की आलोचना करते हुए कहा है कि तुम्हारी साधना या तपोमार्ग व्यर्थ है, यदि तुम यह नहीं जानते कि हम कैसे थे कैसे हैं, कौन कौन से पाप किये हैं; कितने पाप नष्ट हो गये, कितने और नष्ट होने हैं; कब इनसे छुटकारा मिल जायगा[1] आदि। निर्ग्रन्थ तपस्या की ऐसी ही आलोचनाएं पाली ग्रन्थों में कई स्थानों में देखने में आती हैं। परन्तु इन आलोचनाओं में, मालूम होता है, बुद्ध ने निर्ग्रन्थ तपस्या की अन्तरात्मा की आलोचना न कर केवल उसके उग्र बाह्य रूप की ही आलोचना की है। निर्ग्रन्थ परम्परा की मान्यता है कि कायक्लेश या तपस्या चित्त के मलों को हटाकर आध्यात्मिक शुद्धि के लिए है। यदि उससे यह काम नहीं होता तो वह व्यर्थ है। इस दृष्टि से बुद्ध की आलोचना और जैन मान्यता में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रह जाता।

भग० महावीर ने क्रियावाद की स्थापना में यह घोषित किया कि इस संसार में प्राणियों का जीवन अंशतः भाग्य (पूर्वजन्मकृत कर्मों) पर और कुछ मानवीय प्रयत्नों (इहजन्मकृत) पर निर्भर है। इस तरह निययानिययं (नियतानियतं) सिद्धान्त की स्थापना कर तत्कालीन अन्य क्रियावादियों से अपना स्पष्ट मतभेद प्रकट किया। उन्होंने बतलाया कि पूर्वजन्मकृत कर्मों के अधीन हो हमने कैसे भवभ्रमण किया और कैसे अब कर रहे हैं। भग० बुद्ध भी क्रियावादी थे पर उनका सिद्धान्त था कि हम हेतु प्रभव हैं और हेतुओं (प्रतीत्य समुत्पाद) के कारण चक्कर काट रहे हैं।[2]

इन दोनों क्रियावादियों के मतभेद को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि महावीर अन्तरंग और बहिरंग दोनों शक्तियों को मानकर चलते हैं, बुद्ध केवल अन्तरंग शक्ति अर्थात् मन (मनोपुब्बंगमा धम्मा) पर चलते हैं। एक ने बहिरंग काय-कर्म (दण्ड) वचन-कर्म (दण्ड) और अन्तरंग मनःकर्म (दण्ड) को बन्धन रूप से प्रतिपादित किया है तो दूसरे ने केवल अन्तरंग मन को ही अनर्थकर बतलाया है। मज्झिमनिकाय के उपालिसुत्त में यही चर्चा उठाई गई है कि निगण्ठ नातपुत्त काय, वचन और मन रूप से तीन दण्ड मानते हैं जब कि बुद्ध ने काय, वचन और मन को तीन कर्म माना है; पर इन दोनों के मतों की उक्तसूत्र में आलोचना करते हुए यह दिखलाया गया है कि महावीर कायदण्ड को महापापवाला मानते हैं जब कि बुद्ध मनःकर्म को। इस प्रसंग में दण्ड और कर्म का एक ही अर्थ समझना चाहिये, परन्तु महावीर के मत में कायदण्ड को ही सबकुछ बतलाकर उसे गलत ढंग से उपस्थित किया गया है। उपालिसूत्र में यदि हम बुद्ध और उपालि के बीच हुए सम्वाद को सूक्ष्मरीति से पढ़ें, तो महावीर की मान्यता का यथार्थ रूप समझ सकते हैं: "बुद्ध: 'चतुर्याम संवर से संवृत निगण्ठ आते जाते बहुत छोटे छोटे प्राणिसमुदाय को मारता है। हे गृहपति! निगण्ठनातपुत्त इनका क्या फल बतलाते हैं।" उपालि: "भन्ते, अनजान (असंचेतनिक) को निगण्ठनातपुत्त महादोष नहीं मानते, जानकर किये गये कर्म को ही पाप मानते हैं।," इस संवाद से यह निष्कर्ष निकालना सरल है कि मनःपूर्वक (जानकर) किया गया कर्म ही पापकर है।

महावीर का यह सिद्धान्त कि मनःकर्म और कायकर्म दोनों समान रूप से पापजनक हैं, मज्झिमनिकाय के महासच्चकसुत्त से भलीभान्ति समर्थित होता है। उक्तसूत्र में निगण्ठपुत्त सच्चक आजीवक और बुद्ध के मत की आलोचना करते हुए कहता है कि आजीवक तो कायिक भावना में तत्पर हो विचरता है, चित्त

---

१. मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्ध एवं देवदहसुत्त।

२. महावग्ग, सारिपुत्त-मोग्गलान प्रव्रज्या।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की भावना में नहीं, और बुद्ध चित्त की भावना में लगा रहता है, कायिक भावना में नहीं। उक्त आलोचना से महावीर के मत का निष्कर्ष निकालना कोई कठिन नहीं। महावीर के मत में 'कायन्वयं चित्तं होति, चित्तन्वयो कायो होति' अर्थात् काय और मन दोनों की भावना से मुक्ति मिल सकती है न कि केवल काय या केवल मन की भावना से। इसी तरह पाप भी दोनों के संयोग से होगा।

इससे अब हम यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि मन और काय की द्वन्द्वात्मक क्रिया पर नियंत्रण करने के लिए महावीर ने तपस्या के आधार को कायमनोविज्ञानात्मक बनाया और मनोसंवर तथा कायक्लेश को अपने धर्म में महत्त्व दिया। उनका कहना था कि: पुरुष जिन सुखदुःखों का अनुभव करता है वह सब पूर्वजन्म में किये कर्म के कारण ही, उसे कड़वी दुष्कर तपस्या से नष्ट करो और जो अब यहां वचन मन को संवृत कर कर्म करोगे तो भविष्य में पाप न होंगे। इस तरह पुराने कर्मों का तपस्या से अन्त करने पर और नवीन कर्मों को न करने से भविष्य में आश्रव न होगा और आश्रव न होने से कर्मों का क्षय और कर्मों के क्षय होने से दुःखों का नाश तथा दुःखों के नाश से वेदना का नाश और वेदना के नाश से सब पाप जीर्ण हो जावेंगे[1]। उनका दूसरा कथन था कि: पूर्व जन्ममें किये गये पापकर्म यदि अविपक्वफलवाले होंगे तो उनके कारण दुःख वेदनीय आश्रव आते रहेंगे जिनका जन्मान्तर में फल मिलेगा[2]। उनका उपदेश था कि सुख से सुख नहीं पाया जा सकता, दुःख से ही सुख मिल सकता है। यदि सुख से सुख मिल सके तो राजा श्रेणिक भी उसे पा सकता है।[3]

पालि के सुत्तों से महावीर के क्रियावाद के अतिरिक्त उनके ज्ञानवाद का भी थोड़ा संकेत मिलता है। संयुत्तनिकाय के चित्तसंयुत्त में अपना अभिमत प्रकट करते हुए महावीर ने कहा है कि: "सद्धाय खो गहपति ञाणं एव पणीततरं" अर्थात् श्रद्धा से बढ़कर कहीं ज्ञान है। यह कथन जैन ग्रन्थों से मिलता है। जैन दर्शन में ज्ञान को स्वपरप्रकाशक माना गया है और उसे 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' के रूप में भी स्वीकृत किया है।

## आचारमार्ग

पालि ग्रन्थों से हमें जैन श्रावकों एवं मुनियों के आचारविषयक नियमों की भी थोड़ी बहुत जानकारी होती है। इन वर्णनों से मालूम होता है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के नियमों का एक व्यवस्थित रूप था जिनका पालन उस समय एक विशिष्ट वर्ग के लोग करते थे। इतना ही नहीं, भग० बुद्ध ने बुद्धत्वप्राप्ति के पहले जिन साधना मार्गों और नियमों का पालन कर त्याग किया था, उनमें कुछ ऐसे थे जो निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में तब प्रचलित थे और आज भी पालन किये जाते हैं। उदाहरण के लिए मज्झिमनिकाय के महासीहनाद को ही लें। इस सूत्र में अचेलक सम्प्रदाय के रूप में जैन मुनियों के कुछ आचारों का वर्णन मिलता है। यद्यपि पालि ग्रन्थों में अचेलक (वस्त्ररहित) का अर्थ आजीवक सम्प्रदाय ही लिया गया है पर जैनागमों को देखने से मालूम होता है कि अचेलक निर्ग्रन्थसम्प्रदाय में भी थे। स्वयं महावीर वस्त्ररहित (नग्न) थे। आजीवक भी नग्न रहते थे। प्रो. याकोबी ने पालि ग्रन्थों में वर्णित आजीवकों के आचारों से जैनाचारों की समानता तथा जैनागमों में वर्णित महावीर और आजीवक नेता मक्खली गोशाल का ६ वर्षों तक निरन्तर साहचर्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि आजीवक और निर्ग्रन्थ आपस में एक दूसरे से अवश्य प्रभावित हुए हैं। जैनों की मान्यता है कि भग० महावीर के पहले जैन परम्परा के प्रतिष्ठापक भग० पार्श्वनाथ हो गये हैं

१. चूलदुक्खक्खन्धसुत्त।

२. अंगुत्तरनिकाय, चतुक्कनिपात, १९५ सुत्त।

३. चूलदुक्खक्खन्धसुत्त।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

जिनके चलाये आचारविचार के नियम उस समय आजीवकों, निर्ग्रन्थों और बुद्ध के सामने थे। जो हो, पर महासीहनाद और महासच्चक सूत्रों में अचेलकों के नाम से जिन आचारों का वर्णन दिया गया है वे ही आचार आचारांग, दशवैकालिक आदि सूत्रों में निर्ग्रन्थों के आचार के रूप में वर्णित हैं। उन सूत्रों में उनका वर्णन संक्षेप में यों है: "अचेलक रहना, मुक्ताचार होना (स्नान, दातुन नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना), हाथ चाटकर खाना, आइये भदन्त! खड़े रहिये भदन्त! ऐसा कोई कहे तो उसे सुना अनसुना कर देना, सामने लाकर दी हुई भिक्षा का, अपने उद्देश्य से बनाई हुई भिक्षा का और दिये गये निमन्त्रण का अस्वीकार; जिस बर्तन में रसोई पकी हो, उसमें सीधी दी गई भिक्षा का तथा खल आदि में से दी गई भिक्षा का अस्वीकार, भोजन करते हुए दो में से उठकर एक के द्वारा दी जाने वाली भिक्षा का, गर्भिणी स्त्री के द्वारा दी हुई भिक्षा का और पुरुषों के साथ एकान्त में स्थित स्त्री के द्वारा दी जाने वाली भिक्षा का अस्वीकार,..... कभी एक घर से एक कौर, कभी दो घर से दो कौर आदि भिक्षा लेना, तो कभी एक उपवास, कभी दो उपवास आदि करते हुए पन्द्रह उपवास करना, दाढ़ी-मूंछों का लुंचन करना, खड़े होकर और उक्कडु आसन पर बैठकर तप करना, स्नान का सर्वथा त्याग करके शरीर पर मल धारण करना, इतनी सावधानी से जाना-आना कि जल के या अन्य किसी सूक्ष्म जन्तु का घात न हो, कड़ी ठंड में खड़े रहना आदि आदि।"

तपस्या जैन साधु-जीवन का मुख्य अंग था। उसके कारण जैनमुनि दीघतपस्सी जैसा नाम भी पाते थे। वे लोग तपस्या का आचरण प्रायः खड़े होकर (उब्भट्ठको), आसन छोड़कर (आसन पटिक्खित्तो) करते थे। वह तपस्या बड़ी दुःखकर, तीव्र (तिप्पा) एवं कड़वी (कटुका) होती थी।[1]

चतुर्यामसंवर: दीघनिकाय के सामञ्ञफलसूत्र में निगण्ठनाथपुत्त को चतुर्यामसंवर से संवृत लिखा है। वहां चतुर्याम संवर का अर्थ दिया गया है—सब प्रकार के पानी से संवृत (सब्बवारिवारितो) सभी पापों से निवृत (सब्बवारियुत्तो) सभी पापों की शुद्धि होने से संवृत (सब्बावारि धुतो) सभी पाप हानि से सुख अनुभव करने वाला—सब्बवारि पुट्ठो। पालि का यह चतुर्याम संवर हमें जैनागमों के चाउज्जाम (चतुर्याम) की याद दिलाता है जिसका अर्थ होता है चार व्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह। इन चतुर्यामों को, जैनागमों के अनुसार, उपदेश देने वाले भग० पार्श्वनाथ थे जो कि भग० महावीर से २५० वर्ष पहले हुए थे। महावीर ने इन चार यामों में एक और याम-ब्रह्मचर्यव्रत-मिलाकर पञ्चयाम अर्थात् पञ्चमहाव्रतों की स्थापना की। पर उक्त पालि सूत्र में चतुर्याम संवर का जो अर्थ दिया गया है वह एकदम भ्रान्त एवं अस्पष्ट है। निर्ग्रन्थ परम्परा के यथार्थ चतुर्याम संवर से भग० बुद्ध या उनकी समकालीन शिष्यमण्डली अच्छी तरह परिचित न रही हो सो बात नहीं। मज्झिम निकाय के चूलसकुलदायि एवं संयुत्तनिकाय के गामिणि संयुत्त के आठवें सूत्र से मालूम होता है कि प्राणातिपात (हिंसा), अदिन्नादान (चोरी), कामेसु मिच्छाचार (अब्रह्मचर्य), मुसावाद (असत्य) से विरक्त होनेका उपदेश भगवान् महावीर सदा देते थे। तथापि इन सूत्रों में उन बातों का चतुर्यामसंवर नाम से उल्लेख नहीं किया गया। बौद्धपरम्परा में निर्ग्रन्थपरम्परा के इन चतुर्याम या पञ्चयामों का एक रूपान्तर पञ्चशील एवं दशशील के रूप में प्रतिपादन किया गया है तथा वे उक्त नाम से ही वहां समझे गये हैं। महावीर और बुद्ध के समय के चतुर्याम संवर को बौद्धभिक्षु जानते अवश्य थे पर पीछे उसके अर्थसूचक तत्त्वों का अपने ग्रन्थों में नामान्तर देख जैन परम्परा के अर्थ को भूल गये। मालूम होता है कि पीछे जब पालिपिटकों का संकलन हुआ तो उस समय चतुर्याम संवर का अर्थ देने की आवश्यकता पड़ी और किसी बौद्ध भिक्षु ने अपनी कल्पना से उक्त अर्थ की योजना कर दी। जो हो, पर चतुर्याम का ठीक अर्थ वहां नहीं दिया गया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि महावीर की अहिंसा की

१. मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्धसुत्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरमसाधना को दृष्टि में रखकर ही चतुर्याम का पालिसूत्रों में उक्त अर्थ प्रतिपादित किया गया है। सब प्रकार के पानी के त्याग का सीधा अर्थ यह है कि जैन लोग ठंडे पानी में जीव मानते हैं और उसका प्राशुक बनाकर ही उपयोग करते हैं। जैन मुनि अप्राशुक ठंडापानी नहीं ले सकते। इस आचरण से पालि ग्रन्थ अच्छीतरह परिचित हैं। उपालिसुत्त में स्पष्ट लिखा है महावीर 'सीतोदकपटिक्खित्तो' (ठण्डेपानी का त्यागी) 'उण्होदक पटिसेवी' (उष्ण जल लेने वाले) थे।

## जैन श्रावकों के कुछ व्रत

अंगुत्तर निकाय के तृतीय निदान के ७० वें सूत्र में निगण्ठोपसथ नाम से जो वर्णन दिया गया है उससे हमें जैन श्रावकों के दिग्व्रत और पौषध व्रतों का परिचय मिलता है। उक्त सूत्र में भग० बुद्ध ने विशाखा नाम की उपासिका के लिए गोपालक-उपोसथ और निगण्ठ उपोसथ का परिहास करते हुए, आर्य उपोसथ का उपदेश दिया है। निगण्ठ उपोसथ का वर्णन इस प्रकार है: हे विशाखे! श्रमणों की एक जाति है जिसे निगण्ठ कहते हैं। वे लोग अपने श्रावकों को बुलाकर कहते हैं कि "प्रत्येक दिशा में इतने योजन से आगे जो प्राणी हैं उनका दण्ड—हिंसक व्यापार—छोड़ो। देखो विशाखे! वे निर्ग्रन्थ श्रावक अमुक अमुक योजन के बाद न जाने का निश्चय करते हैं और उतने योजन के बाद प्राणियों की हिंसा का त्याग करते हैं तथा साथ ही वे मर्यादित योजन के भीतर आने वाले प्राणियों की हिंसा का त्याग नहीं करते, इससे वे प्राणातिपात से नहीं बचते हैं।"

भग० बुद्ध के इन वचनों में जैन श्रावकों के १२ व्रतों में से प्रथम गुणव्रत–दिग्व्रत–को पहिचानना कठिन नहीं है। दिग्व्रत का अर्थ है पूर्व, उत्तर, दक्खिन, पच्छिम की दिशाओं में योजनों का प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओं में न जाना। इससे श्रावक अपने अल्प इच्छा नाम के गुण की वृद्धि करता है।

उसी प्रसंग में आगे कहा गया है: वे लोग उपोसथ के दिन (तदह उपोसथे) श्रावकों से इस तरह कहते हैं कि "हे भाइयो! तुम सब कपड़ों का त्याग कर ऐसा कहो कि मैं किसी का नहीं हूँ और मेरा कोई नहीं है इत्यादि। पर यह कहने वाले यह निश्चय रूप से जानते हैं कि अमुक मेरे मातापिता हैं, अमुक मेरा पुत्र, स्त्री, स्वामी एवं दास है। पर ये इस तरह जानते हुए भी जब यह कहते हैं कि मैं किसी का नहीं हूं और मेरा कोई नहीं है, तो वे अवश्य झूठ बोलते हैं।"

इन शब्दों में जैन गृहस्थ के बारह व्रतों में से द्वितीय शिक्षाव्रत–पौषध–का उल्लेख मिलता है। जैन ग्रंथों में यह पौषधव्रत उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार से कहा गया है। उत्तम पौषध वह है जिसमें जैन श्रावक सब प्रकार के आहार का त्याग कर मर्यादित समय के लिए वस्त्र, अलंकार, कुटुम्ब से सम्बन्ध आदि का त्याग कर देता है। मध्यम उपोसथ में यद्यपि विधि पूर्ववत् ही रहती है पर श्रावक उसदिन जलमात्र ग्रहण करता है। जघन्य पौषध में आहार भी ग्रहण करता है। इस जघन्य उपोसथ को हम उक्त प्रसंग में ही परिहास के ढंग से वर्णन किये गये गोपालक उपोसथ के रूप में पहचान सकते हैं: "हे विशाखे! जैसे सायंकाल ग्वाले गायों को चराकर उनके मालिकों को वापस सौंपते हैं तब कहते हैं कि आज अमुक जगह में गायें चरीं, अमुक जगह में पानी पिया और कल अमुक अमुक स्थान में चरेंगी और पानी पियेंगी...आदि। वैसे ही जो लोग उपोसथ लेकर खानपान की चर्चा करते हैं वे आज हमने अमुक खाया, अमुक पिया और अमुक खायेंगे, अमुक पान करेंगे, ऐसी चर्चा करने वालों का उपोसथ गोपालक उपोसथ है।"

इस तरह बौद्ध ग्रन्थों में बिखरी हुई सामग्री को जैन ग्रन्थों से तुलना कर तत्कालीन जैन धर्म का रूप अच्छी तरह जाना जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org